प्राचीन भारत में शिक्षक-शिक्षा

(शिक्षण-शास्त्र के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. चान्दकिरणसलूजा

निदेशक, सं.सं.प्र.

सारांश:

'शिक्षक-शिक्षण का रूप' एक दीर्घ कालिक प्रक्रिया थी। गुरुकुल व्यवस्था के अन्तर्गत गुरुकुल में ही वास करने वाले अनेक अन्तेवासी गुरुकुल में रहते हुए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से निरन्तर शिक्षण एवं प्रशिक्षण प्राप्त करते चलते थे। पुनश्च अनेक प्रतिभाशाली अन्तेवासी वहीं रहकर शिक्षक का काम करने लगते थे। नैषधीय चरित में 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः' के द्वारा इसके प्रति संकेत दे दिया है कि ज्ञान का प्रसार शिक्षण-प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। इन गुरुकुलों में आयोजित की जाने वाली विभिन्न प्रकार की संवाद परिषद्, शास्त्रार्थ अथवा सङ्गोष्ठियां भी अनेक प्रकार से शिक्षक-शिक्षा के सशक्त साधन की भूमिका निर्वहण करती थीं।

प्रस्तावना

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि। *(ऋग्वेद, ७.४.४)*

(अर्थात् विशिष्ट ज्ञानी अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करे।)

यह बहुत-ही स्पष्ट-सा अभिमत है कि भारत की प्राचीन परम्परा मूलतः ज्ञान की ही परम्परा रही है। भारतीय वाङ्मय विभिन्न प्रकार से विभिन्न स्थानों पर पुनः-पुनः इस बात को दोहराता-सा चलता है कि :

'न हि ज्ञानसदृशं पवित्रमिह विद्यते' *(श्रीमद्भगवद्गीता, ४.३८),*

अर्थात् इस जगत् में ज्ञान के समान कुछ और पवित्र नहीं है। अतः ज्ञान प्राप्त करते हुए ही हम सौ वर्षों तक जीवित रहें -

'बुध्येम शरदः शतम्' *(अथर्ववेदः, १९.६७.३)*

यह भी सत्य है कि ज्ञान का कोई अन्त नहीं है -

'नान्तो ज्ञानस्य विद्यते'

और न ही कोई सब कुछ जानता है, ' सर्वः सर्वं न जानाति'। अतः पुनः पुनः प्रार्थना की गई है कि -

' स्वाध्यायान्मा प्रमदः'

इस प्रकार के विभिन्न कथन जहां भारत की समृद्ध ज्ञानपरम्परा की निरन्तरता के सूचक हैं वहीं ये प्राचीन भारत की समृद्ध शिक्षा व्यवस्था को भी स्पष्ट रूप से रेखांकित-सा करते चलते हैं। ऋग्वेद में इस ओर भी सङ्केत दे दिया गया है कि अन्ततः शिक्षा हेतु परिवेश कैसा होना चाहिए !

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत। *(ऋग्वेदः, ८.६.२८)*

(अर्थात् बुद्धि द्वारा बुद्धिमानों का जन्म पर्वतों की घाटियों एवं नदियों के सङ्गमस्थलों में होता है।)

वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय के अन्तर्गत वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, प्रातिशाख्य, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, कल्प, शिक्षा आदि छः वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, विभिन्न महाकाव्य, नाटक आदि, काव्यशास्त्र, गणितशास्त्र, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, कोशसाहित्य आदि ग्रन्थों की भाषा, शैली एवं संरचनात्मक गठन अत्यन्त समृद्ध शिक्षा-व्यवस्था का ही स्पष्ट सङ्केत देते हैं। और बड़ी ही स्पष्टता के साथ सूचित करते हैं कि शिक्षा की यह सम्पूर्ण सुव्यवस्थित व्यवस्था अत्यन्त *कुशल एवं प्रशिक्षित* अध्यापकों पर ही निर्भर करती है।

चतुर्मुखी प्रक्रिया

तैत्तिरीयोपनिषद् की *शिक्षावल्ली* में शिक्षा को चतुर्मुखी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

आचार्यो पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्।

अर्थात् शिक्षा के चार आधारभूत तत्त्व हैं –

- प्रथम आचार्य
- तत्पश्चात् अन्तेवासी अर्थात् छात्र
- इसके उपरान्त दोनों को जोड़ने वाली विद्या
- और अन्ततः प्रवचन रूपी सन्धान

इस सङ्कल्पना को निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं -

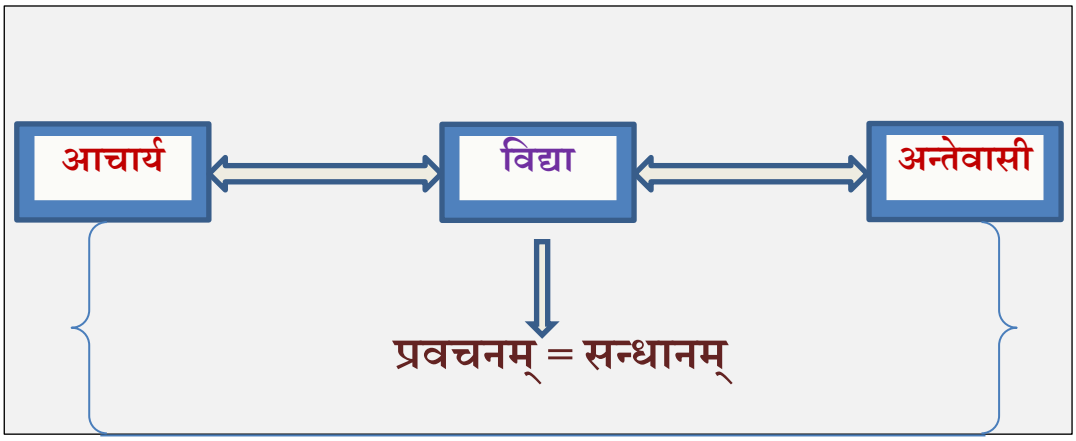

इस शिक्षा व्यवस्था का मूल लक्ष्य विद्यार्थियों का सम्पूर्ण अथवा सर्वाङ्गीण विकास था। तैत्तिरीयोपनिषद् में इस सर्वाङ्गीण विकास के स्वरूप को पञ्चकोशीय विकास के रूप में अभिव्यक्त किया गया है -

इसके निहितार्थ को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है कि शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य शिक्षार्थी के समग्र विकास से जुड़ा हुआ था। अतः स्पष्ट ही है कि तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था गुरुकुलीय शिक्षा व्यवस्था होने के नाते बच्चे के समग्र विकास के चक्र का मुख्य दायित्व आचार्य का ही था। आचार्य की भूमिका ही केन्द्रिक भूमिका थी। आचार्य की इस केन्द्रिक भूमिका के मुख्यतः पाँच आयाम थे -

- शारीरिक विकास की दृष्टि से अन्तेवासियों अर्थात् विद्यार्थियों की प्रकृति (स्वभाव) का अवबोध।
- प्राणिक विकास की दृष्टि से विद्यार्थियों की विभिन्न शारीरिक गतिविधियों अथवा प्रणाली तन्त्र का भली-भांति अवबोधन
- मानसिक विकास की दृष्टि से विद्यार्थियों के मनोवैज्ञानिक तत्वों, यथा रुचि, प्रवृत्ति, अभिवृत्ति, अभिप्रेरणा, भावनात्मक विकासप्रक्रिया आदि का अवबोध।
- विद्यार्थियों के बौद्धिक विकास आदि की दृष्टि से बुद्धि के स्वरूप एवं प्रकार्य आदि का अवबोध।
- विद्यार्थियों के आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से आध्यात्मिकतत्त्वों एवं आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया का अवबोध।

यह स्पष्ट ही है कि इस विकास का लक्ष्यात्मक केन्द्र 'अन्तेवासी' अर्थात् छात्र हैं तो इस दायित्व का निर्वहण करने वाले शिक्षक/शिक्षिकाएँ ही हैं। शिक्षा के लक्ष्य, विधियां, पाठ्यक्रम, सामग्री, गतिविधियों, मूल्याङ्कन आदि के समन्वित रूप को ही *शिक्षक-शिक्षा की पाठ्यचर्या* के रूप में लिया गया था।

'गुरुकुल प्रणाली' के रूप में प्रतिष्ठित इस भारतीय शिक्षा व्यवस्था में *भाषा-शिक्षा का अपना एक विशिष्ट स्थान* था। कारण भी स्पष्ट ही है कि ज्ञान की सम्पूर्ण प्रक्रिया मूल रूप से बच्चे के भाषाई विकास अथवा आधार पर निर्भर रहती है। भाषा-दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थ *वाक्यपदीयम्* के रचयिता *भर्तृहरि* के अनुसार :

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥

अर्थात् संसार में प्रायः सभी संकल्पनाएँ मूलरूप से शब्द पर ही आश्रित रहती हैं। सम्पूर्ण ज्ञान मूलतः शब्द के द्वारा ही उद्भासित होता है। अतः भारतीय परम्परा में *भाषा प्रयोग की क्षमता का विकास* ही शिक्षा का प्रारम्भिक लक्ष्य था। साथ ही यह अत्यन्त स्पष्ट ही है कि तत्कालीन शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप मुख्यतः वाचिक था, अतः इस व्यवस्था में भाषा का विशिष्ट स्थान था। अतः शिक्षा का मूल अर्थ ही भाषाई विकास से सम्बद्ध था। भाषा अभ्यास के उपरान्त ही वे गुरुकुल की ओर प्रस्थान करते थे -

पदक्रमविशेषज्ञोवर्णकर्मविचक्षणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम् ॥
(तैत्तिरीयप्रातिशाख्य,२४)

गुरुकुल में रहते हुए वे भाषा का व्याकरण आदि की दृष्टि से भलीभांति अध्ययन करते थे। वस्तुतः भाषा ही विभिन्न शास्त्रों के अवबोधन का आधार है। वेद मूलतःज्ञान के प्रतीक ही माने जा सकते हैं, तथा वेदों के अवबोधन हेतु व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प, शिक्षा इन छः वेदाङ्गों में भाषा सम्बद्ध वेदाङ्गों का ही बाहुल्य दृष्टिगत होता है। औपचारिक रूप से यह उक्ति प्रसिद्ध है कि -

'द्वादशवर्ष पर्यन्तं पठ पुत्र व्याकरणम्।'

अतः शिक्षक से सुदृढ़ भाषाई आधार की अपेक्षा की जाती थी। पाँच वर्ष तक घर पर रह कर ही बच्चे का यह भाषाई अभ्यास सहज रूप से चलता था। बच्चे के इस भाषाई विकास का दायित्व मुख्यतः सम्पूर्ण परिवार पर आश्रित था तथापि पिता का दायित्व ही प्रमुख था -

पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्। *(ऋग्वेद १०.३९.६)*

पांच वर्ष की आयु के उपरान्त ही औपचारिक शिक्षा का प्रारम्भ होता था :

सम्प्राप्ते पञ्चमे वर्षे अप्रसुप्ते जनार्दने।
एवं सुनिश्चिते काले विद्यारम्भं तु कारयेत्॥

इसका स्पष्ट निहितार्थ है कि *अनुभव एवं बच्चे का सम्पूर्ण* अवबोध ही शिक्षक-शिक्षा का आधार रहे हैं। चरक संहिता में 'विमानस्थानक' के अन्तर्गत आचार्य के लक्षण, गुण अथवा उनसे की जाने वाली अपेक्षाएँ शिक्षक-शिक्षा के स्वरूप को ही प्रतिपादित करती हैं। 'आचार्य-परीक्षा' के अन्तर्गत स्वरूप को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया गया है –

"पर्यवदातश्रुतं परिदृष्टकर्माणं दक्षं दक्षिणं शुचिं जितहस्तम् उपकरणवन्तं, सर्वेन्द्रियोपन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञम्-अनुपस्कृतविद्यमनहङ्कृतमनसूयकमकोपनं क्लेशक्षमं शिष्यवत्सलम् -अध्यापकं ज्ञापनसमर्थं चेति। एवंगुणो ह्याचार्यः सुक्षेत्रमार्त्तवो मेघ इव शस्यगुणैः सुशिष्यमाशु वैद्यगुणैः सम्पादयति। तमुपसृत्यारिराधयिषुरुपचरेदग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च भर्तृवच्चाप्रमत्तः। ततः तत्प्रसादात् कृत्स्नं शास्त्रमधिगम्य शास्त्रस्य दृढतायामभिधानसौष्ठवेऽर्थस्य अर्थस्य विज्ञाने वचनशक्तौ च भूयो भूयः प्रयतेत सम्यक्॥"

इस दृष्टि से वही व्यक्ति आचार्य पद के योग्य है -

- जिसका व्यक्तित्व बहु-आयामी हो।
- जो शारीरिक, बौद्धिक, भावात्मक एवं सामाजिक दृष्टि से सुदृढ़ हो।
- जो चारित्रिक दृष्टि से हीन अथवा दुर्व्यसनी न हो।
- जो कर्तव्यनिष्ठ हो।
- जिसकी बुद्धि शास्त्रज्ञान में निर्मल हो अर्थात् जो अपने शास्त्र के विषय में सभी प्रकार से निर्भ्रान्त हो।
- जो अपने शास्त्र से सम्बद्ध अन्य शास्त्रों से भी भली-भांति परिचित हो।
- जो सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ कर्माभ्यास में भी निपुण हो।
- जो अपने शास्त्र का भली-भांति परीक्षण करने के योग्य हो।
- जो अध्यापन-प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं में दक्ष हो।
- जो शिष्यों के प्रति सरल व उदारचरित वाला हो।
- जो शरीर, वाणी एवं मन से पवित्र हो।
- जो अपने कार्य में अतीव कुशल हो।
- जो शिक्षण एवं प्रयोग आदि की दृष्टि से सम्पूर्णतया साधन सम्पन्न हो।
- जो अपने शिष्य की प्रकृति को भली-भांति समझने वाला हो।
- उसे दूसरे के गुणों में दोष देखने वाला नहीं होना चाहिए।
- उसे कष्टों को सहन करने वाला होना चाहिए।
- उसे क्रोधी स्वभाववाला नहीं होना चाहिए।
- उसे एक विवेकशील बुद्धिमान् व्यक्ति के रूप में देश-काल आदि की परिस्थितियों के अनुरूप निर्णय लेने में सक्षम होना चाहिए।
- उसे अपने कार्य की गुरुता, लघुता, कर्मफल तथा अनुबन्ध को समझने के योग्य होना चाहिए।
- उसे अपने पाठ्य शास्त्र का युक्ति पूर्वक भली-भांति परीक्षण करने के योग्य होना चाहिए।
- उसे अपने उच्च, मध्यम तथा साधारण बुद्धिवाले तीनों प्रकार के शिष्यों के लिए हितकारी पद्धति को अपनाने योग्य होना चाहिए।

- उसे पुनरुक्ति दोष से बचने वाला होना चाहिए।

चरक संहिता में उल्लिखित ये विभिन्न प्रकार के प्रमुख लक्षण अथवा गुण तत्कालीन शिक्षक-शिक्षा के निम्नलिखित स्वरूप को प्रकट करती है -

- शिक्षक-शिक्षा से अपेक्षित सामाजिक पक्ष
- शिक्षक एवं छात्रों के परिप्रेक्ष्य में मनोवैज्ञानिक पक्ष
- शिक्षक-शिक्षा का दार्शनिक पक्ष
- सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक शिक्षणशास्त्र
- शिक्षण का अन्तःशास्त्रीय पक्ष
- शिक्षा का मूल्याङ्कनात्मक पक्ष

शिक्षक-शिक्षा के अन्तर्गत 'शिक्षण-शास्त्र' की दृष्टि से तैत्तिरीयोपनिषद् 'अथाधिविद्यम्' के अन्तर्गत शिक्षण-प्रक्रिया हेतु प्रयुक्त 'प्रवचनं सन्धानम्' में *सन्धानम्* शब्द का प्रयोग विशेष रूप से ध्यातव्य है। यह शिक्षण की प्रक्रिया को *अनुसन्धान, गवेषणा, संशोधन* आदि के रूप में प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से शिक्षण की प्रक्रिया में तार्किक चिन्तन का विशेष स्थान रहा है।

ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया को तीन प्रमुख भागों मे देखा जा सकता है :

'आत्मा अरे वा श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः'

- श्रवण (अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान)
- मनन (अर्थात् तार्किक दृष्टि से विमर्शन)
- निदिध्यासन (अर्थात् अनुप्रयोगात्मकता)

यहां यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया एक आधारभूत प्रक्रिया है। तत्कालीन शिक्षणशास्त्र की दृष्टि से विषय की प्रकृति तथा उस विषय के ज्ञान हेतु अपनाई जाने वाली पद्धति के बीच एक गहरा सम्बन्ध रहता था। प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के *पाठ्यविषयों* का वर्णन प्राप्त होता है। शुक्रनीति में उल्लेख है कि विद्याओं की संख्या यद्यपि अनन्त है, तथापि बत्तीस विद्याएं (एवं चौंसठ कलाएं) प्रसिद्ध हैं :

विद्या ह्यनन्ताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते।

विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टिकलाः स्मृताः॥ (शुक्रनीतिः)

अर्थात् *ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, सामवेद, इतिहास, पुराण, षड्-वेदाङ्ग, पितृविद्या, (नृवंशविज्ञान), राशिविद्या (गणितशास्त्र), दैवविद्या (वर्षाविज्ञान), निधिविद्या (खनिजशास्त्र), वाकोविद्या (विधि एवं तर्कशास्त्र), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या (देवशास्त्र), ब्रह्मविद्या (अध्यात्म), भूतविद्या (जन्तुशास्त्र), क्षत्रविद्या(शस्त्रविद्या), नक्षत्रविद्या(ज्योतिष्), सर्पविद्या (विषविज्ञान), देवजनविद्या(गन्धर्वविद्या) आदि।*

इस हेतु अपनाई जाने वाली पद्धति का सम्बन्ध 'अनुबन्धचतुष्टय' के अन्तर्गत प्रवृत्ति, प्रयोक्ता, प्रयोजन, तथा विषय का स्वरूप इन चार तत्त्वों पर भी निर्भर रहता था –

'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्त्वम् अनुबन्धत्वम्'

शास्त्रीय प्रक्रिया से पूर्व इन चारों तत्त्वों का स्पष्टीकरण व उल्लेखन अनिवार्य था –

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥

भारतीय शिक्षा परम्परा में परीक्षण का भी विशिष्ट स्थान रहा है। वस्तुतः परीक्षण की प्रक्रिया भी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्वरूप को ही स्पष्ट करती है। परीक्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत *'शास्त्रार्थ'* एवं *'शलाका-परीक्षा'* का प्रमुख स्थान रहा है। परीक्षा के ये दोनों प्रकार विषय के तलस्पर्शी ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। इस प्रक्रिया में अपने अध्येय विषय के साथ-साथ अन्य परीक्षणीय विषयों के भी भली-भांति ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् शिक्षक-शिक्षा का मौलिक स्वरूप 'अन्तःशास्त्रीय' होना चाहिए। इस प्रकार के सीखने की प्रक्रिया का वर्णन न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र में स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है :

"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञान्निश्श्रेयसाधिगमः"। ***(न्याय.,१.१.१)***

अर्थात् प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि की स्पष्टता ही अधिगम अर्थात् सीखने की प्रक्रिया का मार्ग है।

सीखने-सिखाने की दृष्टि से विभिन्न शास्त्रों के विभिन्न प्रसंगों एवं अन्तःशास्त्रीय सन्दर्भों में परस्पर सङ्गति को ध्यान में रखते हुए अर्थ की प्राप्ति हेतु विभिन्न युक्तियों का विशिष्ट अभ्यास कराया जाता था। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इन्हें *तन्त्रयुक्ति* के नाम से अभिहित किया गया है। चरकसंहिता में '३६ तन्त्रयुक्तियों' के रूप में इसका विस्तृत रूप प्राप्त होता है -

(१) अधिकरण (२) योग (३) हेत्वर्थ (४) पदार्थ (५) प्रदेश (६) उद्देश (७) निर्देश (८) वाक्यशेष (९) प्रयोजन (१०) उपदेश (११) अपदेश (१२) अतिदेश (१३) अर्थापत्ति (१४) निर्णय (१५) प्रसंग (१६) एकान्त (१७) नैकान्ता (१८) अपवर्ग (१९) विपर्यय (२०) पूर्वपक्ष (२१) विधान (२२) अनुमत (२३) व्याख्यान (२४) संशय (२५) अतीतावेक्षा (२६) अनागतावेक्षण (२७) स्वसंज्ञा (२८) उह्य (२९) समुच्चय (३०) निर्दर्शन (३१) निर्वचन (३२) नियोग (३३) विकल्पन (३४) प्रत्युत्सार (३५) उद्धार (३६) सम्भव

(अरुणदत्तः, सर्वाङ्गसुन्दरा पृष्ठ, ९२)

(अर्थात् जिस प्रकार भाग्य के क्षय होने पर व्यक्ति को अर्थ (धन) की प्राप्ति नहीं होती है, उसी प्रकार यदि किसी ने तन्त्र (शास्त्र) का अध्ययन किया है किन्तु वह तन्त्रयुक्ति का उपयोग करना नहीं जानता तो वह शास्त्र का अर्थ नहीं समझ पाता है।)

अतः विभिन्न शास्त्रों के अर्थ की प्राप्ति हेतु शिक्षकों को इसका विशेष अभ्यास कराया जाता था। इसी प्रकार गुरुकुल में प्रवेश के समय छात्रों की प्रवेश-परीक्षा की चर्चा छात्र-योग्यता को सम्बोधित करती है -

'अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेवादितः परीक्षेत'

यह तथ्य मूलतः जहाँ शिक्षार्थियों की सीखने की अभिवृत्ति का सूचक है, वहीं शिक्षार्थियों से अपेक्षित गुणों व व्यवहार का भी सूचक है -

तद्यथा प्रशान्तमार्यप्रकृतिमक्षुद्रकर्माणमऋजुचक्षुर्मुखनासावंशं तनुरक्तजिह्वम् अविकृतदन्तौष्ठम्- अमिन्मिनम् धृतिमन्तमनहङ्कृतं मेधाविनं वितर्कस्मृति- सम्पन्नमुदारसत्त्वं तद्विद्यकुलजमथवा तद्विद्यवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशि-नमव्यङ्गमव्यवसनिनं शीलशौचाचार-अनुरागदाक्ष्य प्रादक्षिण्या- उपपन्नम्- अध्ययनाकाममर्थविज्ञाने कर्मदर्शने चानन्यकार्यमलुब्धमनलसं सर्वभूत-हितैषिणाम् - आचार्यसर्वानुशिष्टिप्रतिकरमनुरक्तमेवंगुणसमुदितम्- अध्याप्यमाहुः। अतः अध्ययनशील शिक्षार्थियों में अध्ययन हेतु जिज्ञासा, शारीरिक-स्वास्थ्य, मेधा, उदारता, विनम्रता, शान्तचित्तता, विश्वसनीयता, जितेन्द्रियता, दुर्व्यसनरहितता, अध्ययन में रुचि, श्रद्धा आदि गुण अपेक्षित हैं।

साथ ही इस तथ्य की निरन्तर अनुभूति कराई जाती थी कि केवल शिक्षक ही ज्ञान का स्रोत नहीं है अपितु शिक्षा के चार मुख्य स्रोत हैं -

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन।
स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति॥ ***(महाभाष्यम्)***

अर्थात् व्यक्ति 'शास्त्राध्ययन, स्वाध्याय, प्रवचन तथा अनुभव' इन चार साधनों से ज्ञान प्राप्त करता है।

अतः छात्र प्राप्त किए जाने वाले ज्ञान का केवल चतुर्थांश ही शिक्षक से प्राप्त करते हैं। इस दृष्टि से तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षण-प्रणाली में 'संवादात्मकी प्रक्रिया' का विशिष्ट स्थान रहा है। इसके माध्यम से शिक्षार्थी अपनी अनुभवात्मक अनुभूतियों के आदान-प्रदान से अधिगमनात्मक परिवेश को अधिक समृद्ध बनाते थे। औपनिषदिक शिक्षा-प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षक-शिक्षा को यदि संवादात्मकी शिक्षा कहा जाए तो सम्भवतः अतिशयोक्ति न होगी।

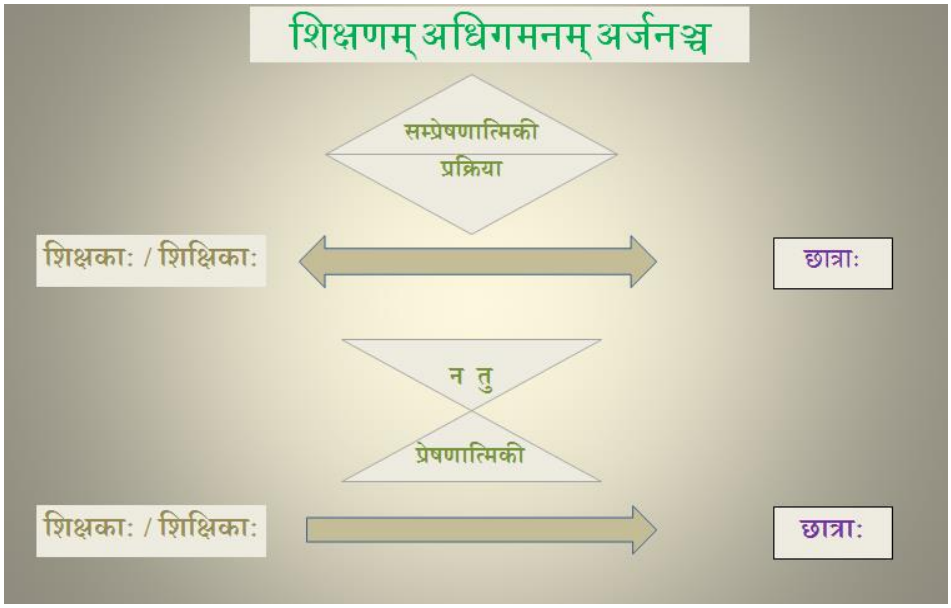

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रमुख उद्देश्य विद्यार्थियों में छिपी ऊर्जा का प्रस्फुटीकरण था। अतः प्रशिक्षण की यह प्रक्रिया बच्चे को कोरी स्लेट मानकर नहीं चलती अपितु इस पूर्व मान्यता पर आधारित थी कि बच्चा स्वयमेव प्रकृति द्वारा प्रदत्त ऊर्जा से परिपूर्ण है। परिवेश निर्माण के द्वारा उसमें निहित ऊर्जा का प्रस्फुटीकरण ही शिक्षक अथवा शिक्षिका का कार्य है। यही कारण है कि इसे कोशीय विकास की प्रक्रिया के रूप में देखा गया। यह मान्यता ईशोपनिषद् की इस मान्यता पर आधारित है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

(ईशोपनिषद्, १.१५)

[सत्य का मुख स्वर्णपात्र से ढका हुआ है। हे (विश्व का पोषण करने वाले)पूषन् !
सत्य के स्वरूप का दर्शन करने के लिए उस स्वर्णपात्र रूपी आवरण को हटाइए !]

'स्थूल से सूक्ष्म' सिद्धान्त का अनुपालन करते हुए इस शिक्षा व्यवस्था में विषय को *'सुगम एवं सरल'* बनाने की दृष्टि से *आख्यान प्रणाली'* का विशिष्ट स्थान था। एक बात बहुत ही स्पष्ट रूप से भासित होती है कि प्राचीन भारत में आध्यात्मिकता का विशिष्ट स्थान था। इसी के साथ-साथ विभिन्न शास्त्रों के प्रतिपाद्य की गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए आचार्य बलदेव उपाध्याय मानते हैं कि प्रतिपाद्य की गम्भीरता तथा रहस्यवादिता को ध्यान में रखते हुए 'परिचित के द्वारा अपरिचित का तथा व्यक्त के द्वारा अव्यक्त का उपदेश देना शिक्षक का महनीय कार्य रहा है और इस कार्य की सार्वत्रिक सिद्धि के लिए उन्होंने आख्यानों का प्रयोग किया है।' इसका प्रारम्भ ऋग्वेद से दृष्टिगत होता है। इसी के साथ-साथ 'लौकिक न्याय-शैली' का प्रचलन भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। मूलतः यह प्रक्रिया 'मनोवैज्ञानिक शैली' की प्रतीक है।

इन सभी तत्त्वों के साथ-साथ निम्नलिखित बिन्दुओं की ओर विशेष अवदान दिया गया -

- किसी भी शैक्षिक प्रक्रिया में सिद्धान्त एवं प्रयोग को समान रूप से परिपूरकात्मक महत्त्वप्रदान किया गया था। महाकवि कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में बहुत ही स्पष्टता के साथ व्यक्त किया गया कि श्रेष्ठ शिक्षक अथवा शिक्षिका तो वही है जो दोनों में कुशल हो -

शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था सङ्क्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्यः एव॥

- शिक्षण-शास्त्र को मनोवैज्ञानिकी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हुए छात्रों में परस्पर भेद की ओर विशेष ध्यान दिया गया था -

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे,
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा,
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः॥

(उत्तररामचरितम्, २.६)

- शिक्षण-प्रक्रिया के प्रशिक्षण के अन्तर्गत व्याख्या-शैली का अपना विशिष्ट स्थान था। शास्त्रीय गम्भीरता को ध्यान में रखते हुए इस बात पर अधिक बल दिया जाता था कि छात्र गम्भीर पाठ्यवस्तु को भली-भांति हृदयङ्गम कर सकें। इस दृष्टि से इस अवबोधनात्मक प्रक्रिया के प्रमुख रूप से छः अंग माने गए -

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपोऽथ समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

अर्थात् पाठ्यवस्तु से सम्बद्ध मूल श्लोक अथवा अनुच्छेद के 'पदच्छेद, प्रति पद के अर्थ की स्पष्टता, समस्त पदों का विग्रह, वाक्य-योजना का तार्किक स्पष्टीकरण अथवा आधार, पाठ्य वस्तु पर सम्भावित अथवा वास्तविक रूप से किए गए आक्षेप तथा उनका समाधान' आदि व्याख्या के छः प्रमुख अंग हैं।

सम्पूर्ण शिक्षण-शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य शिक्षार्थी को स्वाध्याय हेतु स्वावलम्बी बनाना रहा है।

- इस तथ्य की ओर भी विशेष अवधान था कि शिक्षार्थी परिवर्तनशील विभिन्न अनुभवों आदि के आधार पर स्वयं 'सिद्धान्त-निर्माण' में भी कुशल हों सकें अथवा शास्त्र रचना में सिद्धता प्राप्त कर सकें न कि वे केवल शास्त्रों की पूर्वकृत व्याख्याओं तक ही अपने को बांधे रखें अथवा सिमटे रहें। यही ज्ञान की निरन्तरता चिह्न है। ज्ञान-पिपासा का प्रतीक है।
- ज्ञान-पिपासा की जागृति ही शिक्षक-शिक्षा का लक्ष्य है। इस सन्दर्भ में आचार्य विद्या निवास मिश्र जी का कथन है कि 'ज्ञानी जितना ही ज्ञान में उतरता चला जाता है, वह उतना ही अधिक अनुभव करता है कि अभी बहुत कुछ जानने को शेष है, अभी तो मैंने कुछ नहीं जाना । यह विद्या की गहराई का ही परिणाम है। विद्या सीमाओं को पहचानना सिखाती है कि तुम्हारी यह सीमा है, तुम यहाँ तक जान पाये, इसके परे भी कुछ है, इसके आगे भी कुछ है।

  पारम्परिक भारतीय शिक्षक-शिक्षा इसी सत्यता के अन्वेषण से जुड़ी हुई थी। यही सन्धान है – 'प्रवचनं सन्धानम्'। यही 'नवोन्मेषण' है। इस दृष्टि से,
- प्रश्न पूछना सिखाना भी शिक्षक-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग था। प्रतिभा का उन्मेषण ही इसका लक्ष्य रहा है।
- इस शिक्षक-शिक्षा-व्यवस्था में *विनयत्व* का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस दृष्टि से आचार्य विद्यानिवास जी का अवलोकन है कि -

  'हमारे यहाँ प्रश्न के दो पक्ष होते हैं – पूर्व पक्ष व उत्तर पक्ष। पूर्व पक्ष का अर्थ है शंका का पक्ष। आचार्य पूर्व पक्ष अर्थात् शंका पक्ष को रखता है बड़े आदर के साथ, कुछ तुच्छ समझ कर नहीं रखता। उसमें खूब डूबता है, अच्छी तरह समझता है और् छात्र से कहता है कि देखो, इस मत के प्रति भी आदर रखो। यह मेरा मत नहीं है, यह मत दूसरों का है। मैं इसका खण्डन करना चाहता हूँ। लेकिन पहले मैं इस मत को बड़ी ईमानदारी के साथ रखना चाहता हूँ। '
- उदारतापूर्वक दूसरे के मत को रखना स्वतन्त्र चिन्तन का प्रारम्भिक बिन्दु है। यही पारम्परिक भारतीय शिक्षक-शिक्षा व्यवस्था का मूल स्वरूप है।
- पारम्परिक भारतीय शिक्षक-शिक्षा व्यवस्था में शिक्षणविधि को 'तपस्' के रूप में प्रकट किया गया है।
- अमरकोश, अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि ग्रन्थों में 'शिक्षक' हेतु उपलब्ध *अध्यापक, गुरु, प्रवक्ता, उपाध्याय, आचार्य* आदि विभिन्न पद जहाँ शिक्षक के विभिन्न प्रकार कार्यों को प्रकट करते हैं वहीं तदनुकूल प्रशिक्षण के सङ्केतक हैं।
- उपनिषद् आदि साहित्य में उल्लिखित *'संवाद, चर्चा-परिचर्चा, कथोपकथन, विमर्श, मौन, परिशीलन, सम्भाषण, आख्यान, व्याख्यान, कण्ठस्थीकरण, अनुकरण, अन्वेषण, अभ्यास, पर्यटन, क्रीडा, सूत्र, ऊहा, निर्देशन, सन्दर्शन, अन्वयन, उपदेश, दृष्टान्त, व्यतिरेक, अध्यारोप, अपवाद, तपः, स्वाध्याय, ध्यान, एकाग्रता, आत्मनिरीक्षण* आदि विभिन्न प्रकार की तर्क अथवा शिक्षण की प्रक्रियाएँ 'शिक्षक-शिक्षा' के स्वरूप को ही प्रतिपादित करती हैं कि शिक्षकों किन प्रकार की भूमिकाओं हेतु तैयार किया जाता था।

इन सभी प्रक्रियाओं के मुख्य लक्ष्य को ज्ञान के अवबोधनात्मक, विश्लेषणात्मक तथा अनुप्रयोग पक्षों में विभाजित किया गया था। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार -

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम्॥

स्मृतिचन्द्रिका में शिक्षण की सम्पूर्णप्रक्रिया को निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत किया गया है -

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

अर्थात् 'सुनने की इच्छा उत्पन्न करना, श्रवण, सुनकर ग्रहण करना, ग्रहण कर उसे हृदय में धारण करना, ग्रहण किए गए विचार पर तार्किक दृष्टि से विचार करना, तदनन्तर अर्थ की प्राप्ति और फिर तत्त्व को प्राप्ति' ज्ञानप्राप्ति की साधिका 'धी' अर्थात् बुद्धि के लक्षण हैं। यही विधि के रूप में शिक्षक-शिक्षा का लक्ष्य है।

यहाँ यह स्पष्टव्य है कि 'शिक्षक-शिक्षण का रूप' एक दीर्घ कालिक प्रक्रिया थी। गुरुकुल व्यवस्था के अन्तर्गत गुरुकुल में ही वास करने वाले अनेक अन्तेवासी गुरुकुल में रहते हुए सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से निरन्तर शिक्षण एवं प्रशिक्षण प्राप्त करते चलते थे। पुनश्च अनेक प्रतिभाशाली अन्तेवासी वहीं रहकर शिक्षक का काम करने लगते थे। नैषधीय चरित में *'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः'* के द्वारा इसके प्रति संकेत दे दिया है कि ज्ञान का प्रसार शिक्षण-प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। इन गुरुकुलों में आयोजित की जाने वाली विभिन्न प्रकार की संवाद परिषद्, शास्त्रार्थ अथवा सङ्गोष्ठियां भी अनेक प्रकार से शिक्षक-शिक्षा के सशक्त साधन की भूमिका निर्वहण करती थीं।

सार रूप में कहा जा सकता है कि अध्यापकों की शिक्षा का स्वरूप उनकी विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं के परिप्रेक्ष्य में किया जाता -

प्रेरकः सूचकश्चैव वाचको दर्शकस्तथा ।
शिक्षको बोधकश्चैव षडेते गुरवः स्मृताः ॥

सन्दर्भग्रन्थ

1. सातवलेकर श्रीपाद दामोदर (संपा), **अथर्ववेद,** स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९८५
2. गोयन्दका हरिकृष्णदास (संपा.), **ईशादि नौ उपनिषद्,** गीताप्रेस गोरखपुर, २०१०
3. रेग्मी शेषराजशर्मा(व्याख्या.), **उत्तररामचरितम्,** चौखम्बा संस्कृत सीरीज् आफिस्, वाराणसी १९६६
4. सातवलेकर श्रीपाद दामोदर (संपा), **ऋग्वेद,** स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९८५
5. त्रिपाठी ब्रह्मानन्द, **चरकसंहिता,** चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१७
6. शर्मा वेंकटराम (सम्पा.), **तैत्तिरीयप्रातिशाख्य,** मद्रासविश्वविद्यालय, मद्रास, १९३०
7. गोयन्दका हरिकृष्णदास (संपा.), **तैत्तिरीयोपनिषद्,** गीताप्रेस गोरखपुर, २०१०

8. **न्यायसूत्राणि,** संस्कृत संवर्धन प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०२०
9. आपटे महादेव चिमणाजी(सम्पा.), **बृहदारण्यकोपनिषद्,** आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावली, पुणे १८९१
10. शास्त्री नन्दकिशोर (सम्पा.), **महाभाष्यम्,** प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९९९
11. **मालविकाग्निमित्रम्,** चौखम्बा संस्कृत सीरीज् आफिस्, वाराणसी २००८
12. शर्मा रघुनाथ(सम्पा.), **वाक्यपदीयम्,** सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९१
13. मिश्र ब्रह्मशङ्कर (व्याख्या.), **शुक्रनीतिः,** चौखम्बा संस्कृत सीरीज् आफिस्, वाराणसी १९६८
14. **श्रीमद्भगवद्गीता,** चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, देहली २००५
15. श्रीनिवासाचार्य (सम्पा.) **स्मृतिचन्द्रिका,** गव्हर्नमेण्ट ओरिएण्टल लायब्ररी, मैसुरु १९१४